जैन-परम्परामें सन्त और उनकी साधना-पद्धति

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

जैन सन्त : लक्षण तथा स्वरूप

सामान्यतः भारतीय सन्त साधु, मुनि, तपस्वी या यतिके नामसे अभिहित किए जाते हैं। समयकी गतिशील धारामें साधु-सन्तोंके इतने नाम प्रचलित रहे हैं कि उन सबको गिनाना इस छोटेसे निबन्धमें सम्भव नहीं है। किन्तु यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि जैन-परम्परामें साधु, मुनि तथा श्रमण शब्द विशेष रूपसे प्रचलित रहे हैं। साधु चारित्रवाले सन्तोंके नाम हैं[1]—श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दन्त या यति। बौद्ध परम्पराके श्रमण, क्षपणक तथा भिक्षु शब्दोंका प्रयोग भी जैनवाङ्मयमें जैन साधुओंके लिए दृष्टिगत होता है। हमारी धारणा यह है कि साधु तथा श्रमण शब्द अत्यन्त प्राचीन हैं। शौरसेनी आगम ग्रन्थोंमें तथा नमस्कार-मन्त्रमें 'साहू' शब्दका ही प्रयोग मिलता है। परवर्त्ती कालमें जैन आगम ग्रन्थोंमें तथा आचार्य कुन्दकुन्द आदिकी रचनाओंमें साहू तथा समण दोनों शब्दोंके प्रयोग भली-भाँति लक्षित होते हैं।

साधुका अर्थ है[2]—अनन्तज्ञानादि स्वरूप शुद्धात्माकी साधना करनेवाला। जो अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोंका साधक है, वह साधु कहा जाता है। 'सन्त' शब्दसे भी यही भाव ध्वनित होता है क्योंकि सत्, चित् और आनन्दको उपलब्ध होनेवाला सन्त कहलाता है। इसी प्रकार जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टीके ढेले, स्वर्ण और जीवन-मरणके प्रति सदा समताका भाव बना रहता है, वह श्रमण है[3]। दूसरे शब्दोंमें जिसके राग-द्वेषका द्वैत प्रकट नहीं होता, जो सतत विशुद्धदृष्टिज्ञप्ति-स्वभाव शुद्धात्म-तत्त्वका अनुभव करता है, वही सच्चा साधु किंवा सन्त है। इस प्रकार धर्मपरिणत स्वरूपवाला आत्मा शुद्धोपयोगमें लीन होनेके कारण सच्चा सुख अथवा मोक्ष-सुख प्राप्त करता है। साधु-सन्तोंकी साधनाका यही एकमात्र लक्ष्य होता है। जो शुद्धोपयोगी श्रमण होते हैं, वे राग-द्वेषादिसे रहित धर्म-परिणति स्वरूप शुद्ध साध्यको उपलब्ध करनेवाले होते हैं, उन्हें ही उत्तम मुनि कहते हैं। किन्तु प्रारम्भिक भूमिकामें उनके निकटवर्ती शुभोपयोगी साधु भी गौण रूपसे श्रमण कहे जाते हैं। वास्तवमें परम जिनकी आराधना करनेमें सभी जैन सन्त-साधु स्व-शुद्धात्माके ही आराधक होते हैं क्योंकि निजात्माकी आराधना करके ही वे कर्म-शत्रुओंका विनाश करते हैं।

साधुके अनेक गुण कहे गए हैं। किन्तु उनमें मूल गुणोंका होना अत्यन्त अनिवार्य है। मूलगुणके बिना कोई जैन साधु नहीं हो सकता। मूलगुण ही वे बाहरी लक्षण हैं जिनके आधारपर जैन सन्तकी

---

१. समणोत्ति संजदोत्ति य रिसिमुणिसाधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥ मूलाचार, गा० ८८६

२. "अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः।"—धवला टीका, १, १, १

३. समसत्तुबन्धुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ प्रवचनसार, गा० २४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परीक्षाकी जाती है। यथार्थमें निर्विकल्पतामें स्थित रहने वाले साम्य दशाको प्राप्त साधु ही उत्तम कहे जाते हैं। परन्तु अधिक समय तक कोई भी श्रमण-सन्त निर्विकल्प दशामें स्थित नहीं रह सकता। अतएव सम्यक् रूपसे व्यवहार चारित्रका पालन करते हुए अविच्छिन्न रूपसे सामायिकमें आरूढ़ होते हैं। चारित्रका उद्देश्य मूलमें समताभावकी उपासना है। क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर-दोनों परम्पराओंमें मुनियोंके चारित्रको महत्त्व दिया गया है। चारित्र दो प्रकारका कहा गया है—सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र। प्रथम सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट जिनागममें प्रतिपादित तत्त्वार्थके स्वरूपको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना तथा शंकादि अतिचार मल-दोष रहित निर्मलता सहित निःशंकित आदि अष्टांग गुणोंका प्रकट होना सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। द्वितीय महाव्रतादिसे युक्त अट्ठाईस मूलगुणोंका संयमाचरण है[1]। परमार्थमें तो श्रमणके निर्विकल्प सामायिक संयम रूप एक ही प्रकारका अभेद चारित्र होता है। किन्तु उसमें विकल्प या भेदरूप होनेसे श्रमणोंके मूलगुण कहे जाते हैं। दिगम्बर परम्पराके अनुसार सभी कालके तीर्थंकरोंके शासनमें सामायिक संयमका ही उपदेश दिया जाता रहता है। किन्तु अन्तिम तीर्थंकर महावीर तथा आदि तीर्थंकर ऋषभदेवने छेदोपस्थापनाका उपदेश दिया था[2]। इसका कारण मुख्य रूपसे घोर मिथ्यात्वी जीवोंका होना कहा जाता है। आदि तीर्थमें लोग सरल थे और अन्तिममें कुटिल बुद्धि वाले। अठाईस मूलगुण इस प्रकार कहे गए हैं[3] : पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियोंका निरोध, छह आवश्यक, केशलोंच, नग्नत्व, अस्नान, भूमिशयन, दन्तधावन-वर्जन, खड़े होकर भोजन और एक बार आहार। श्वेताम्बर परम्परामें भी पाँच महाव्रतोंको अनिवार्य रूपसे माना गया है। पाँच महाव्रतों और पाँच समितियोंके बिना कोइ जैन मुनि नहीं हो सकता। 'स्थानांगसूत्र'में दश प्रकारकी समाधियोंमें पाँच महाव्रत तथा पाँच समितिका उल्लेख किया गया है[4]।

पाँच महाव्रतोंमें सब प्रकारके परिग्रहका त्याग हो जाता है। जहाँ सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग है, वहाँ सभी वस्त्रोंका भी त्याग है। कहा भी है—सम्पूर्ण वस्त्रोंका त्याग, अचेलकता या नग्नता, केशलोंच करना, शरीरादिसे ममत्व छोड़ना या कायोत्सर्ग करना और मयूरपिच्छिका धारण करना—यह चार प्रकारका औत्सर्गिक लिंग है[5]। श्वेताम्बरोंके मान्य आगम ग्रन्थमें भी साधुके अठाईस मूलगुणोंमेंसे कई बातें समान मिलती हैं। "स्थानांगसूत्र"में उल्लेख है—'आर्यो।'....मैंने पाँच महाव्रतात्मक, सप्रतिक्रमण और अचेलधर्मका निरूपण किया है। आर्यो।....मैंने नग्नभावत्व, मुण्डभाव, अस्नान, दन्तप्रक्षालन-वर्जन, छत्र-वर्जन, पादुका-वर्जन, भूमि-शय्या, केशलोच आदिका निरूपण किया है[6]। श्वेताम्बर-परम्परामें साधुके मूलगुणोंकी

१. जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणासदेसियं तं पि।। चारित्तपाहुड, गा० ५

२. बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवदिसंति।
छेदुवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य।। मूलाचार, गा०५३३

३. वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतधावणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।। प्रवचनसार, गा० २०८–२०९

४. ठाणांगसुत्त, स्था० १०, सूत्र ८

५. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे।। भगवती आराधना, गा० ८२

६. मुनि नथमल : उत्तराध्ययन-एक समीक्षात्मक अध्ययन, कलकत्ता, १९६८, पृ० १२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संख्या सामान्यतः छह मानी गई है[1]। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने मूलगुणोंकी संख्या पाँच और छह दोनोंका उल्लेख किया है सम्यक्त्वसे सहित पाँच महाव्रतोंको उन्होंने पाँच मूलगुण कहा है[2]। इन पाँच महाव्रतोंके साथ रात्रिभोजन-विरमण मिलाकर मूलगुणोंकी संख्या छह कही जाती है।

वास्तवमें जैन साधु-सन्तोंका सच्चा स्वरूप दिगम्बर मुद्रामें विराजित वीतरागतामें ही लक्षित होता है। अतएव सभी भारतीय सम्प्रदायोंमें समानान्तर रूपसे दिगम्बरत्वका महत्त्व किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार किया गया है। योगियोंमें परमहंस साधुओंका स्थान सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। आजीवक श्रमण नग्न रूपमें ही विहार करते थे। इसी प्रकार हिन्दुओंके कापालिक साधु नागा ही होते हैं जो आज भी विद्यमान हैं। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है। भारतीय सन्तोंकी परम्परा वैदिक और श्रमण—इन दो रूपोंमें अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रवाहित रही है। इसे ही हम दूसरे शब्दोंमें ऋषि-परम्परा तथा मुनि-परम्परा कह सकते हैं। मुनि-परम्परा आध्यात्मिक रही है जिसका सभी प्रकारसे आर्हत संस्कृतिसे सम्बन्ध रहा है। ऋषि-परम्परा वेदोंको प्रमाण माननेवाली पूर्णतः बार्हत रही है। श्रमण मुनि वस्तु-स्वरूपके विज्ञानी तथा आत्म-धर्मके उपदेष्टा रहे हैं। आत्म-धर्मकी साधनाके बिना कोई सच्चा श्रमण नहीं हो सकता। श्रमण-परम्पराके कारण ब्राह्मण धर्ममें वानप्रस्थ और संन्यासको प्रश्रय मिला[3]। जैनधर्ममें प्रारम्भसे ही वानप्रस्थके रूपमें ऐलक, क्षुल्लक (लंगोटी धारण करने वाले) साधकोंका वर्ग दिगम्बर-परम्परामें प्रचलित रहा है। संन्यासीके रूपमें पूर्ण नग्न साधु ही मान्य रहे हैं।

केवल जैन साहित्यमें ही नहीं, वेद, उपनिषद्, पुराणादि साहित्यमें भी श्रमण-संस्कृतिके पुरस्कर्ता 'श्रमण'का उल्लेख तपस्वीके रूपमें परिलक्षित होता है[4]। इन उल्लेखोंके आधारपर जैनधर्म व आर्हत मतकी प्राचीनताका निश्चित होता है। इतना ही नहीं, इस काल-चक्रकी धारामें अभिमत प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवका भी सादर उल्लेख वैदिक वाङ्मय तथा हिन्दू पुराणोंमें मिलता है। अतएव इनकी प्रामाणिकतामें कोई सन्देह नहीं है। पुराण-साहित्यके अध्ययनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भिक्षुओंके पाँच महाव्रत या यम सर्वमान्य थे[5]। 'जाबालोपनिषद्'का यह वर्णन भी ध्यान देने योग्य है कि निर्ग्रन्थ, निष्परिग्रही, नग्न-दिगम्बर साधु ब्रह्म मार्गमें संलग्न हैं[6]। उपनिषद्-साहित्यमें 'तुरीयातीत' अर्थात् सर्वत्यागी संन्यासियोंका

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, गा० १८२९

२. सम्मत्त समेयाइं महव्वयाणुव्वयाइं मूलगुणा। वही, गा० १२४४

३. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : जैन साहित्यका इतिहास, पूर्व पीठिकासे उद्धृत, पृ० १३

४. "तृदिला अतृदिलासो अद्रयो श्रमणा अश्रुथिता अमृत्यवः।"—ऋग्वेद, १०, ९४, ११
"श्रमणो श्रमणस्तापतो तापसो...." बृहदारण्यक, ४, ३, २२
"वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवु"—तैत्तिरीय आरण्यक, २ प्रपाठक, ७ अनुवाक, १–२तथा—तैत्तरीयोपनिषद् २, ७
"वातरशना य ऋषयः श्रमणा उर्ध्वमन्थिनः।"—श्रीमद्भागवत ११, ६, ४७
"यत्र लोका न लोकाः....श्रमणो न श्रमणस्तापसो।"—ब्रह्मोपनिषद्
"आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणाः जनाः।"—श्रीमद्भागवत १२, ३, १८

५. अस्तेयं ब्रह्मचर्यञ्च अलोभस्त्याग एव च।
व्रतानि पंच भिक्षूणामहिंसा परमात्विह॥ लिंगपुराण, ८९, २४

६. "यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्तद् ब्रह्ममार्गे...."—जाबालोपनिषद्, पृ० २६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो वर्णन किया गया है, उनमें परमहंस साधुकी भाँति अपनी उत्तम चर्या लिए हुए आत्म-ज्ञान-ध्यानमें लीन दिगम्बर जैन साधु कहे जाते हैं। संन्यासीको भी अपने शुद्धरूपमें दिगम्बर बताया गया है। टीकाकारोंने 'अवधूत' का अर्थ दिगम्बर किया है[1]। भर्तृहरिने दिगम्बर मुद्राका महत्त्व बताते हुए यह कामनाकी थी कि मैं इस अवस्थाको कब प्राप्त होऊँगा? क्योंकि दिगम्बरत्त्वके बिना कर्म-जंजालसे मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है[2]।

साधना-पद्धति

यथार्थमें स्वभावकी आराधनाको साधना कहते हैं। स्वभावकी आराधनाके समय समस्त लौकिक कर्म तथा व्यावहारिक प्रवृत्तिगौण हो जाती है, क्योंकि उसमें राग-द्वेषकी प्रवृत्ति होती है। वास्तवमें प्रवृत्तिका मूल राग कहा गया है। अतः राग-द्वेषके त्यागका नाम निवृत्ति है। राग-द्वेषका सम्बन्ध बाहरी पर-पदार्थोंसे होनेके कारण उनका भी त्याग किया जाता है, किन्तु त्यागका मूल राग-द्वेष-मोहका अभाव है। जैसे-जैसे यह जीव आत्म-स्वभावमें लीन होता जाता है, वैसे-वैसे धार्मिक क्रिया प्रवृत्तिरूप व्रत-नियमादि सहज ही छूटते जाते हैं। साधक दशामें साधु जिन मूल गुणों तथा उत्तर गुणोंको साध्यके निमित्त समझकर पूर्वमें अंगीकार करता है, व्यवहारमें उनका पालन करता हुआ भी उनसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति नही मानता। इसीलिए कहा गया है कि व्यवहारमें बन्ध होता है और स्वभावमें लीन होनेसे मोक्ष होता है। इसीलिए स्वभावकी आराधनाके समय व्यहारको गौण कर देना चाहिए[3]। जिनकी व्यवहारकी ही एकान्त मान्यता है, वे सुख-दुखादि कर्मोंसे छूटकर कभी सच्चे सुखको उपलब्ध नहीं होते। क्योंकि व्यवहार पर-पदार्थोंके आश्रयसे होता है और उनके ही आश्रयसे राग-द्वेषके भाव होते हैं। परन्तु परमार्थ निज आत्माश्रित है, इसलिए कर्म-प्रवृत्ति छुड़ानेके लिए परमार्थका उपदेश दिया गया है। व्यवहारका आश्रय तो अभव्य जीव भी ग्रहण करते हैं। व्रत, समिति, गुप्ति, तप और शीलका पालन करते हुए भी वे सदा मोही, अज्ञानी बने रहते हैं[4]। जो ऐसा मानते हैं कि पर-पदार्थ जीवमें राग-द्वेष उत्पन्न करते हैं, तो यह अज्ञान है। क्योंकि आत्माके उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषका कारण अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं, अन्य द्रव्य तो निमित्तमात्र हैं। परमार्थमें अत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्य निमित्तकी अपेक्षा मात्र नित्य, अभेद एक रूप है। उसमें ऐसी स्वच्छता है कि दर्पणकी भाँति जब जैसा निमित्त मिलता है वैसा स्वयं परिणमन करता है, उसको अन्य कोई परिणमाता नहीं है। किन्तु जिनको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है, वे ऐसा मानते हैं कि आत्माको परद्रव्य जैसा यह परिणमन करता है। यह मान्यता अज्ञानपूर्ण है क्योंकि जिसे कार्यके पुरुषार्थका पता होगा, वही अन्य द्रव्यकी

---

१. "संन्यासः षड्विधो भवति—कुटिचक्रं बहुदकहंस परमहंस तुरीयातीत अवधूश्रुति।—संन्यासोपनिषद्, १३
तुरीयातीत—सर्वत्यागी तुरीयातीतो गोमुखवृत्या फलाहारी चेति गृहत्यागी देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः।

२. एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥ वैराग्यशतक, ५८, वि० सं० १९८२ का संस्करण

३. ववहारादो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले॥ नयचक्र, गा० २४२

४. वदसमिदीगुत्तिओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु॥ समयसार, गा० २७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियाको बदलकर उसे शक्तिहीन कर सकता है; परन्तु सभी द्रव्य अपने-अपने परिणमनमें स्वतन्त्र हैं। उनको मूलरूपसे बनाने और मिटानेका भाव करना कर्तृत्वरूप अहंकार है, घोर अज्ञान है[1]।

जैनदर्शन कहता है कि एकान्तसे द्वैत या अद्वैत नहीं माना जा सकता है। किन्तु लोकमें पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ इहलोक-परलोक, अन्धकार-प्रकाश, ज्ञान-अज्ञान, बन्ध-मोक्षका होना पाया जाता है, अतः व्यवहारसे मान लेना चाहिए। यह कथन भी उचित नहीं है कि कर्मद्वैत, लोकद्वैत आदिकी कल्पना अविद्याके निमित्तसे होती है क्योंकि विद्या अविद्या और बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था अद्वैतमें नहीं हो सकती है। हेतुके द्वारा यदि अद्वैतकी सिद्धि की जाए, तो हेतु तथा साध्यके सद्भावमें द्वैतकी भी सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार हेतुके बिना यदि अद्वैतकी सिद्धिकी जाये, तो वचन मात्रसे द्वैतकी सिद्धि हो जाती है[2]। अतएव किसी अपेक्षासे द्वैतको और किसी अपेक्षासे अद्वैतको माना जा सकता है; किन्तु वस्तु-स्थिति वैसी होनी चाहिए क्योंकि आत्मद्रव्य परमार्थसे बन्ध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है। इसी विचार-सरणिके अनुरूप परमार्थोन्मुखी होकर व्यवहारमार्गमें प्रवृत्तिका उपदेश किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्दका कथन है—साधु पुरुष सदा सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका सेवन करें। परमार्थमें इन तीनोंको आत्मस्वरूप ही जानें[3]। परमार्थ या निश्चय अभेद रूप है और व्यवहार भेद रूप है। जिनागमका समस्त विवेचन परमार्थ और व्यवहार—दोनों प्रकारसे किया गया है। येही दोनों अनेकान्तके मूल हैं।

साधना : क्रम व भेद

जिस प्रकार ज्ञान, ज्ञप्ति, ज्ञाता और ज्ञेयका प्रतिपादन किया जाता है, उसी प्रकारसे साधन, साधना, साधक और साध्यका भी विचार किया गया है। साधनसे ही साधनाका क्रम निश्चित होता है। साधनका निश्चय साध्य-साधक सम्बन्धसे किया जाता है। सम्बन्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधारपर निश्चित किया जाता है। जहाँ पर अभेद प्रधान होता है और भेद गौण अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी प्रत्यासत्ति होती है, उसे सम्बन्ध कहते हैं। स्वभाव मात्र स्वस्वामित्वमयी सम्बन्ध-शक्ति कही जाती है। साधनाके मूलमें यही परिणमनशील लक्षित होती है। जैनदर्शनके अनुसार मनुष्यमात्रका साध्य कर्म-क्लेशसे मुक्ति या आत्मोपलब्धि है। अपने असाधारण गुणसे युक्त स्व-परप्रकाश आत्मा स्वयं साधक है। दूसरे शब्दोंसे शुद्ध आत्माकी स्वतः उपलब्धि साध्य है और अशुद्ध आत्मा साधक है। आत्मद्रव्य निर्मल ज्ञानमय है जो परमात्मा रूप है[4]। इस प्रकार साध्यको सिद्ध करनेके लिए जिन अन्तरंग और बहिरंग निमित्तोंका आलम्बन लिया जाता है, उनको साधन कहा जाता है और तद्रूप प्रवृत्तिको साधना

---

१. अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा ज्ञानं दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ॥
—समयसारकलश श्लो० ५७

२. कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्या विद्याद्वयं न स्याद् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥
हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥ आप्तमीमांसा प० २, का० २५–२६

३. दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ समयसार, गा० १६

४. जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ ॥ परमात्मप्रकाश, १, २६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं। जैनधर्मकी मूलधुरी वीतरागता है। वीतरागताकी परिणतिमें जो निमित्त होता है, उसे ही लोकमें साधन या कारण कहा जाता है। वीतरागताकी प्राप्तिमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र व तप साधन कहे जाते हैं। इनको ही जिनागममें आराधना नाम दिया गया है[1]। आराधनाका मूल सूत्र है—वस्तु-स्वरूपकी वास्तविक पहचान। जिसे आत्माकी पहचान नहीं है, वह वर्तमान तथा अनुभूयमान शुद्ध दशाका बोध नहीं कर सकता। अतएव सकर्मा तथा अबन्ध—दोनों ही दशाओंका वास्तविक परिज्ञान कर साधक भेद-विज्ञानके बलपर मुक्तिकी आराधनाके मार्गपर अग्रसर हो सकता है।

जैनधर्मकी मूलधारा वीतरागतासे उपलक्षित वीतराग परिणति है। उसे लक्षकर जिस साधना-पद्धतिका निर्वचन किया गया है, वह एकान्ततः न तो ज्ञानप्रधान है, न चारित्रप्रधान और न केवल मुक्ति-प्रधान। वास्तवमें इसमें तीनोंका सम्यक् समन्वय है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि यह सम्यक् दर्शन-ज्ञानमूलक चारित्रप्रधान साधना-पद्धति है। यथार्थमें चारित्र पुरुषका दर्पण है। चारित्रके निर्मल दर्पणमें ही पुरुषका व्यक्तित्व सम्यक् प्रकार प्रतिबिम्बित होता है। वास्तवमें चारित्र ही धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है—ऐसा जिनागममें कहा गया है। मोह, राग-द्वेषसे रहित आत्माका परिणाम साम्य है[2]। जिस गुणके निर्मल होनेपर अन्य द्रव्योंसे भिन्न सच्चिदानन्द विज्ञानघनस्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्मचैतन्यकी प्रतीति हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव रूपसे भेद-विज्ञान युक्त जो है, वही सम्यग्ज्ञान है तथा राग-द्वेष व योगकी निवृत्ति पूर्वक स्वात्म-स्वभावमें संलीन होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों साधन क्रमसे पूर्ण होते हैं। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनकी पूर्णता होती है, तदनन्तर सम्यग्ज्ञानकी और अन्तमें सम्यक्-चारित्रमें पूर्णता होती है। अतएव इन तीनोंकी पूर्णता होनेपर ही आत्मा विभाव-भावों तथा कर्म-बन्धनोंसे मुक्त होकर पूर्ण विशुद्धताको उपलब्ध होता है। यही कारण है कि ये तीनों मिलकर मोक्षके साधन माने गए हैं। इनमेंसे किसी एकके भी अपूर्ण रहनेपर मोक्ष नहीं हो सकता।

जैनधर्म विशुद्ध आध्यात्मिक है। अतः जैन साधु-सन्तोंकी चर्या भी आध्यात्मिक है। किन्तु अन्य सन्तोंसे इनकी विलक्षणता यह है कि इनका अध्यात्म चारित्रनिरपेक्ष नहीं है। जैन सन्तोंका जीवन अथसे इति तक परमार्थ चारित्रसे भरपूर है। उनकी सभी प्रवृत्तियाँ व्यवहार चारित्र सापेक्ष होती हैं। दूसरे शब्दोंमें जैन सन्त समन्वय और समताके आदर्श होते हैं। उनमें दर्शन, ज्ञान और चारित्रका समन्वय तथा सुख-दुःखादि परिस्थितियोंमें समताभाव लक्षित होता है। उनका चारित्र राग-द्वेष, मोहसे रहित होता है। इस प्रकार अन्तरंग और बहिरंग—दोनोंसे आराधना करते हुए जो वीतराग चारित्रके अविनाभूत निज शुद्धात्माकी भावना करते हैं, उन्हें साधु कहते हैं[3]। उत्तम साधु स्वसंवेदनगम्य परमनिर्विकल्प समाधिमें निरत

---

१. उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिदा॥ भगवती आराधना, अ०१, गा० २

२. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ प्रवचनसार, गा० ७

३. "आभ्यन्तरनिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्ता वीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशुद्धात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति।"

—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ५४ की व्याख्या

तथा—

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स॥—द्रव्यसंग्रह, गा० ५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते हैं। ज्ञानानन्द स्वरूपका साधक साधु आत्मानन्दको प्राप्त करता ही है। अतः सर्वक्रियाओंसे रहित साधुको ज्ञानका आश्रय ही शरणभूत होता है। कहा भी है—जो परमार्थ स्वरूप ज्ञानभावमें स्थित नहीं हैं, वे भले ही व्रत, संयम रूप तप आदिका आचरण करते रहें; किन्तु यथार्थ मोक्षमार्ग उनसे दूर है। क्योंकि पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ क्रियाओंका निषेध कर देने पर कर्मरहित शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति होने पर साधु आश्रय-हीन नहीं होते। निष्कर्म अवस्थामें भी स्वभाव रूप निर्विकल्प ज्ञान ही उनके लिए मात्र शरण है। अतः उस निर्विकल्प ज्ञानमें तल्लीन साधु-सन्त स्वयं ही परम सुखका अनुभव करते हैं[1]। दुःखका कारण आकुलता है और सुखका कारण है—निराकुलता। प्रश्न यह है कि आकुलता क्यों होती है? समाधान यह है कि उपयोगके निमित्तसे आकुलता-निराकुलता होती है। उपयोग क्या है? ज्ञान-दर्शन रूप व्यापार उपयोग है। यह चेतनमें ही पाया जाता है, अचेतनमें नहीं क्योंकि चेतना शक्ति ही उपयोगका कारण है। अनादि कालसे उपयोगके तीन प्रकारके परिमाण हो रहे हैं। यद्यपि परिणाम आत्माकी स्वच्छताका विकार है। किन्तु मोहके निमित्तसे यह जैसा-जैसा परिणमन करती है, वैसी-वैसी परिणति पाई जाती है। जिस प्रकार स्फटिक मणि श्वेत तथा स्वच्छ होती है, किन्तु उसके नीचे रखा हुआ कागज लाल या हरा होनेसे वह मणि भी लाल या हरी दिखलाई पड़ती है, इसी प्रकार आत्मा अपने स्वभावमें शुद्ध, निरञ्जन चैतन्यस्वरूप होनेपर भी मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अव्रत—इन तीन उपयोग रूपोंमें अनादि कालसे परिणत हो रही है। ऐसा नहीं है कि पहले इसका स्वरूप शुद्ध था, कालान्तरमें अशुद्ध हो गया हो। इस प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति तीन प्रकारके परिणाम—विकार समझना चाहिए[2]। इनसे युक्त होने पर जीव जिस-जिस भावको करता है, उस-उस भावका कर्ता कहा जाता है। किन्तु प्रवृत्तिमें चेतन-अचेतन भिन्न-भिन्न हैं। इसलिये इन दोनोंको एक मानना या अपना मानना अज्ञान है और जो इन्हें (पर पदार्थोंको) अपना मानते हैं, वे ही ममत्व बुद्धि कर अहंकार—ममकार करते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्तृत्व तथा अहंकारके मूलमें भोले प्राणियोंका अज्ञान ही है। इसलिये जो ज्ञानी है, वह यह जाने कि पर द्रव्यमें आपा मानना ही अज्ञान है। ऐसा निश्चय कर सर्व कर्तृत्वका त्याग कर दे[3]। वास्तवमें जैन साधु किसीका भी, यहाँ तक कि भगवान्‌को भी अपना कर्ता नहीं मानता है। कर्मकी धाराको बदलनेवाला वह परम पुरुषार्थी होता है। सतत ज्ञान-धारामें लीन हो कर वह अपने आत्म-पुरुषार्थके बल कर मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करता है। आत्म-स्वभावका वेदन करता हुआ जो अपनेमें ही अचल व स्थिर हो जाता है, अपने स्वभावसे हटता नहीं है, वही साधु मोक्षको उपलब्ध होता है।

जैन साधुका अर्थ है—इन्द्रियविजयी आत्म-ज्ञानी। ऐसे आत्मज्ञानीके दो ही प्रमुख कार्य बतलाये हैं—ध्यान और अध्ययन। इस भरतक्षेत्रमें वर्तमान कालमें साधुके धर्मध्यान होता है। यह धर्मध्यान उस

---

१. निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणम्
स्वयं विन्दन्नेते परममृतं तत्र विरत ॥ समयसारकलश श्लोक १–४।

२. उवओगस्स अणाइं परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥—समयसार, गा० ८९

३. एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहि परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥—वही, गा० ९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनिके होता है जो आत्मस्वभावमें स्थित है। जो ऐसा नहीं मानता है, वह अज्ञानी है, उसे धर्मध्यानके स्वरूपका ज्ञान नहीं है[1]। जो व्यवहारको देखता है, वह अपने आपको नहीं लख सकता है। इसलिये योगी सभी प्रकारके व्यवहारको छोड़ कर परमात्माका ध्यान करता है। जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहारमें सोता है, वह आत्मस्वरूप-चर्यामें जागता है। किन्तु जो व्यवहारमें जागता है, वह आत्मचर्यामें सोता रहता है[2]। स्पष्ट है कि साधुके लौकिक व्यवहार नहीं है और यदि है, तो वह साधु नहीं है। धर्मका व्यवहार संघमें रहना, महाव्रतादिकका पालन करनेमें भी वह उस समय तत्पर नहीं होता। अतः सब प्रवृत्तियोंकी निवृत्ति करके आत्मध्यान करता है। अपने आत्मस्वरूपमें लीन हो कर वह देखता--जानता है कि परमज्योति स्वरूप सच्चिदानन्दका जो अनुभव है, वही मैं हूँ, अन्य सबसे भिन्न हूँ। आचार्य कुन्दकुन्दका कथन है—जो मोह-दलका क्षय करके विषयसे विरक्त हो कर मनका निरोध कर स्वभावमें समवस्थित है, वह आत्माका ध्यान करनेवाला है[3]। जो आत्माश्रयी प्रवृत्तिका आश्रय ग्रहण करता है, उसके ही परद्रव्य-प्रवृत्तिका अभाव होनेसे विषयोंकी विरक्तता होती है। जैसे समुद्रमें एकाकी संचरणशील जहाज पर बैठे हुए पक्षीके लिए उस जहाजके अतिरिक्त अन्य कोई आश्रयभूत स्थान नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान-ध्यानसे विषय-विरक्त शुद्ध चित्तके लिए आत्माके सिवाय किसी द्रव्यका आधार नहीं रहता। आत्माके निर्विकल्प ध्यानसे ही मोह-ग्रन्थिका भेदन होता है। मोह—गाँठके टूटने पर फिर क्या होता है ? इसे ही समझाते हुए आचार्य कहते हैं—जो मोह-ग्रन्थिको नष्ट कर, राग-द्वेषका क्षय कर सुख-दुःखमें समान होता हुआ श्रामण्य या साधुत्वमें परिणमन करता है, वही अक्षय सुखको प्राप्त करता है[4]।

जिनागममें श्रमण या सन्त दो प्रकारके बताये गए हैं—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। जो अशुभ प्रवृत्तियोंसे राग तो नहीं करते, किन्तु जिनके व्रतादि रूप शुभ प्रवृत्तियोंमें राग विद्यमान है वे सराग चारित्रके धारक श्रमण कहे गए हैं। परन्तु जिनके किसी भी प्रकारका राग नहीं है, वे वीतराग श्रमण हैं[5]। किन्तु यह निश्चित है कि समभाव और आत्मध्यानकी चर्या पूर्वक जो साधु वीतरागताको उपलब्ध होता है, वही कर्म-क्लेशोंका नाशकर सच्चा सुख या मोक्ष प्राप्त करता है, अन्य नहीं। इस सम्बन्धमें जिनागमका सूत्र यही है कि रागी आत्मा कर्म बाँधता है और राग रहित आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है। निश्चयसे जीवोंके बन्धका संक्षेप यही जानना चाहिए[6]। इसका अर्थ यह है कि चाहे गृहस्थ हो या सन्त, सभी राग-

---

१. भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु भण्णइ सो वि अण्णाणी ।।—मोक्षपाहुड, गा० ७६

२. जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।—मोक्षपाहुड, गा० ३१

३. जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ।। प्रवचनसार, गा० १९६

४. जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ।। वही, गा० १९५

५. असुहेण रायरहिओ वयाइरायेण जो हु संजुत्तो।
सो इह भणिय सराओ मुक्को दोहणं पि खलु इयरो ।। नयचक्र, गा० ३३१

६. रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ।। प्रवचनसार, गा० १७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वेषके कारण संसार-चक्रमें आवर्तन करते हैं और जब रागसे छूट जाते हैं, तभी मुक्तिके कगारपर पहुँचते हैं। केवल साधु-सन्तका भेष बना लेनेसे या बाहरसे दिखने वाली सन्तोचित क्रियाओंके पालन मात्रसे कोई सच्चा श्रमण-सन्त नहीं कहा जा सकता। जिनागम क्या है? यह समझाते हुए जब यह कहा जाता है कि जो विशेष नहीं समझते हैं, उनको इतना ही समझना चाहिए कि जो वीतरागका आगम है उसमें रागादिक विषय-कषायका अभाव और सम्पूर्ण जीवोंकी दया-ये दो प्रधान हैं। फिर, हिंसाका वास्तविक स्वरूप ही यह बताया गया है कि जहाँ-जहाँ राग-द्वेष भाव हैं, वहाँ-वहाँ हिंसा है और जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं है। श्रमण-सन्त तो धर्मकी मूर्ति कहे गए हैं। वे पूज्य इसीलिए हैं कि उनमें धर्म है। धर्मका आविर्भाव शुद्धोपयोगकी स्थितिमें ही होता है जो वीतराग चारित्रसे युक्त साक्षात् केवलज्ञानको प्रकट करनेवाली होती है। यथार्थमें निश्चय ही साध्य स्वरूप है। यही कहा गया है कि बाह्य और अन्तः परमतत्त्वको जानकर ज्ञानका ज्ञानमें ही स्थिर होना निश्चयज्ञान है[1]। यथार्थमें जिस कारणसे परद्रव्यमें राग है, वह संसारका ही कारण है। उस कारणसे ही मुनि नित्य आत्मामें भावना करते हैं, आत्मस्वभावमें लीन रहनेकी भावना भाते हैं[2]। क्योंकि परद्रव्यसे राग करनेपर रागका संस्सार दृढ़ होता है और वह वासनाकी भाँति जन्म-जन्मान्तरों तक संयुक्त रहता है। वीतरागताकी भावना उस संस्कारको शिथिल करती है, उसकी आसक्ति से चित्त परावृत्त होता है और आसक्तिसे हटनेपर ही जैन साधुकी साधना प्रशस्त होती है। आचार्य समन्तभद्रने अत्यन्त सरल शब्दोंमें जैन साधुके चार विशेषणोंका निर्देश किया है—जो विषयोंकी वांछासे रहित, छह कायके जीवोंके घातके आरम्भसे रहित, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित तथा ज्ञान-ध्यान-तपमें लीन रहते हैं, वे ही तपस्वी प्रशंसनीय हैं[3]। इस प्रकार अध्यात्म और आगम—दोनोंकी परिपाटीमें जैन सन्तको ध्यान व अध्ययनशील बतलाया है। ध्यानसे ही मन, वचन और काय—इन तीनों योगोंका निरोध होकर मोहका विनाश हो जाता है।

जैन-परम्परामें संसारका मूल कारण मोह कहा गया है। मोहके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोहके कारण ही इस जीवकी मान्यता विपरीत हो रही है। सम्यक् मान्यताका नाम ही सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयमके कारण ही यह जीव संसारमें अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है। अतएव इनसे छूट जानेका नाम ही मुक्ति है। मुक्ति किसी स्थान या व्यक्तिका नाम नहीं है। यह वह स्थिति है जिसमें प्रतिबन्धक कारणोंके अभावसे व्यक्त हुई परमात्माकी शक्ति अपने सहज, स्वाभाविक रूपमें प्रकाशित होती है। दूसरे शब्दोंमें यह आत्मस्वभाव रूप ही है[4]। इस अवस्थामें न तो आत्माका अभाव होता है और न उसके किसी गुणका नाश होता है और न संसारी जीवकी भाँति इन्द्रिया-

---

१. बहिरंत परमतच्चं णच्चा णाणं खु जं ठियं णाणे।
तं इह णिच्छयणाणं पुव्वं तं मुणह ववहारं ॥—नयचक्र, गा० ३२७

२. जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं।
तेणावि जोइओ णिच्चं कुज्जा अप्पे समावणं ॥—मोक्षपाहुड, गा० ७१

३. विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥—रत्नकरण्डश्रावकाचार, १, १०

४. जं अप्पसहावो मूलोत्तरपयडिसंचियं मुयइ।
तं मुक्खं अविरुद्धं दुविहं खलु दव्वभावगयं ॥—नयचक्र, गा० १५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धीन प्रवृत्ति होती है; किन्तु समस्त लौकिक सुखोंसे परे स्वाधीन तथा अनन्त चतुष्टययुक्त हो अक्षय, निरावास, सतत अवस्थित सच्चिदानन्द परब्रह्मकी स्थिति बनी रहती है।

आध्यात्मिक उत्थानके विभिन्न चरण

वर्तमानमें यह परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर रूपसे दो मुख्य सम्प्रदायोंमें प्रचलित है। दोनों ही सम्प्रदायोंके साधु-सन्त मूलगुणों तथा छह आवश्यकोंका नियमसे पालन करते हैं। दिगम्बर-परम्परामें मूलगुण अट्ठाईस माने गए हैं, किन्तु श्वेताम्बर-परम्परामें मूलगुणोंकी संख्या छह है। दोनों ही परम्पराएँ साधनाके प्रमुख चार अंगों (सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप) को समान रूपसे महत्त्व देती हैं। इसी प्रकार दर्शनके आठ अंग, ज्ञानके पाँच अंग, चारित्रके पाँच अंग और तपकी साधनाके बारह अंग दोनोंमें समान हैं। तपके अन्तर्गत बाह्य और अन्तरंग—दोनों प्रकारके तपोंको दोनों स्वीकार करते हैं। बहिरंग तपके अन्तर्गत काय-क्लेशको भी दोनों महत्त्वपूर्ण मानती हैं। दश प्रकारकी समाचारी भी दोनोंमें लगभग समान है। समाचार या समाचारीका अर्थ है—समताभाव। किन्तु दोनोंकी चर्याओंमें अन्तर है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि श्रमण-सन्तोंके लिए प्रत्येक चर्या, समाचारी, आवश्यक कर्म तथा साधनाके मूलमें समता भाव बनाये रखना अनिवार्य है। इसी प्रकार मोह आदि कर्मके निवारणके लिए ध्यान-तप अनिवार्य माना गया है।

यह निश्चित है कि भारतकी सभी धार्मिक परम्पराओंने साधु-सन्तोंके लिए परमतत्त्वके साक्षात्कार हेतु आध्यात्मिक उत्थानकी विभिन्न भूमिकाओंका प्रतिपादन किया है। बौद्धदर्शनमें छह भूमियोंका वर्णन किया गया है। उनके नाम हैं—अन्धपृथग्जन, कल्याणपृथग्जन, श्रोतापन्न, सकृदागामी, औपपातिक या अनागामी और अर्हत्। वैदिक परम्परामें महर्षि पतंजलिने योगदर्शनमें चित्तकी पाँच भूमिकाओंका निरूपण किया है। वे इस प्रकार हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। वहीं एकाग्रके वितर्कानुगत, विचारा-नुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत चार भेदोंका वर्णन है। निरुद्धके पश्चात् कैवल्य या मोक्षकी उपलब्धि हो जाती है। "योगवाशिष्ठ" में चित्तकी चौदह भूमिकाएँ बताई गई हैं। आजीवक सम्प्रदायमें आठ पेड़ियों-के रूपमें उनका उल्लेख किया गया है, जिनमेंसे तीन अविकासकी तथा पाँच विकासकी अवस्थाकी द्योतक हैं। उनके नाम हैं—मन्दा, खिड्डा, पदवीमंसा, उजुगत, सेख, समण, जिन और पन्न। जैन-परम्परामें मुख्य रूपसे ज्ञानधाराका महत्त्व है—क्योंकि सत्यके साक्षात्कार हेतु उसकी सर्वतोमुखेन उपयोगिता है। जिनागम-परम्परामें ज्ञानको केन्द्रमें स्थान दिया है। अतः एक ओर ज्ञान सत्यकी मान्यतासे संयुक्त है और दूसरी ओर सत्यकी मूल प्रवृत्तिसे सम्बद्ध है। इसे ही आगममें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय कहा गया है। दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी साधनामें विवेककी जागृति आवश्यक है। आत्मानुभूतिसे लेकर स्वसंवेद्य निर्वि-कल्पक ज्ञानकी सतत धारा किस प्रकार केवलज्ञानकी स्थितिको उपलब्ध करा देती है—यही संक्षेपमें जैन श्रमण—सन्तोंकी उपलब्धि-कथा है। इसे ही गणित तथा तर्ककी भाषामें जिनागममें भावोंकी चौदह अवस्थाओंके आधार पर चौदह गुणस्थानोंके रूपमें विशद एवं सूक्ष्म विवेचित किया है जो जैन गणितके आधार पर ही भली-भाँति समझा जा सकता है। इन सबका सारांश यही है कि चित्तके पूर्ण निरोध होते ही साधक एक ऐसी स्थितिमें पहुँच जाता है जहाँ साधन, साध्य और साधकमें कोई भेद नहीं रह जाता। इस स्थितिमें ध्यानकी सिद्धिके बल पर योगी अष्टकर्म रूप मायाका उच्छेद कर अद्वितीय परमब्रह्मको उपलब्ध हो जाता है जो स्वानुभूति रूप परमानन्द स्वरूप है। एक बार परमपदको प्राप्त करनेके पश्चात् फिर यह कभी मायासे लिप्त नहीं होता और न इसे कभी अवतार ही लेना पड़ता है। अपनी शुद्धात्मपरिणतिको उपलब्ध हुआ श्रमण योगी स्वानुभूति रूप परमानन्द दशामें अनन्त काल तक निमज्जित रहता है। अतएव श्रमण-सन्तोंकी साधनाका उद्देश्य शुद्धात्म तत्त्व रूप परमानन्दकी स्थितिको उपलब्ध होना कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके लिए परमब्रह्म ही एक उपादेय होता है, शुद्धात्मतत्त्वरूप परमब्रह्मके सिवाय सब हेय है। इसलिये उपादेयताकी अपेक्षा परमब्रह्म अद्वितीय है। शक्ति रूपसे शुद्धात्मस्वरूप जीव और अनन्त शुद्धात्माओंके समूह रूप परब्रह्ममें अंश-अंशी सम्बन्ध है। परब्रह्मको उपलब्ध होते ही वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, उनमें और परब्रह्ममें कोई अन्तर नहीं रहता है। यही इस साधनाका चरम लक्ष्य है।

सन्तोंकी अविच्छिन्न परम्परा

संक्षेपमें, जैन श्रमण-सन्तोंकी परम्परा आत्मवादी तप-त्यागकी अनाद्यनन्त प्रवहमान वह धारा है जो अतीत, अनागत और वर्तमानका भी अतिक्रान्तकर सतत त्रैकालिक विद्यमान है। भारतीय सन्तोंकी साधना-पद्धतिमें त्यागका उच्चतम आदर्श, अहिंसाका सूक्ष्मतम पालन, व्यक्तित्वका पूर्णतम विकास तथा संयम एवं तपकी पराकाष्ठा पाई जाती है। साधनाकी शुद्धता तथा कठोरताके कारण छठी शताब्दीके पश्चात् भलेही इसके अनुयायिओंकी संख्या कम हो गई हो, किन्तु आज भी इसकी गौरव-गरिमा किसी भी प्रकार क्षीण नहीं हुई है। केवल इस देशमें ही नहीं, देशान्तरोंमें भी जैन सन्तोंके विहार करनेके उल्लेख मिलते हैं। पालि-ग्रन्थ "महावंश"के अनुसार लंकामें ईस्वीपूर्व चौथी शताब्दीमें निर्ग्रन्थ साधु विद्यमान थे। सिंहलनरेश पाण्डुकामयने अनुरुद्धपुरमें जैनमन्दिरका निर्माण कराया था। तीर्थंकर महावीरके सम्बन्धमें कहा गया है कि उन्होंने धर्म-प्रचार करते हुए वृकार्थक, वाह्लीक, यवन, गान्धार, क्वाथतोय, समुद्रवर्ती देशों एवं उत्तर दिशाके तार्ण, कार्ण एवं प्रच्छाल आदि देशोंमें विहार किया था। यह एक इतिहासप्रसिद्ध घटना मानी जाती है कि सिकन्दर महान्के साथ दिगम्बर मुनि कल्याण एवं एक अन्य दिगम्बर सन्तने यूनानके लिए विहार किया था। यूनानी लेखकोंके कथनसे बेक्ट्रिया और इथोपिया देशोंमें श्रमणोंके विहारका पता चलता है। मिश्रमें दिगम्बर मूर्तियोंका निर्माण हुआ था। वहाँकी कुमारी सेन्टमरी आर्यिकाके भेषमें रहती थी[२]। भृगुकच्छके श्रमणाचार्यने एथेन्समें पहुँचकर अहिंसाधर्मका प्रचार किया था। हुएनसाँगके वर्णनसे स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी तक दिगम्बर मुनि अफगानिस्तानमें जैनधर्मका प्रचार करते रहे हैं[३]। जी०एफ० मूरका कथन है कि ईसाकी जन्म शतीके पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीनमें जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकड़ोंकी संख्यामें चारों ओर फैलकर अहिंसाका प्रचार करते थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथोपियाके पहाड़ों व जंगलोंमें उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे। वे अपने आध्यात्मिक ज्ञान और त्यागके लिए प्रसिद्ध थे जो वस्त्र तक नहीं पहनते थे[४]। मेजर जनरल जे० जी० आर० फर्लांगने भी अपनी खोजमें बताया है कि ओकसियना केस्पिया एवं बल्ख तथा समरकन्दके नगरोंमें जैनधर्मके केन्द्र पाए गए हैं, जहाँसे अहिंसाधर्मका प्रचार एवं प्रसार होता था[५]। वर्तमानमें भी मुनि सुशीलकुमार तथा भट्टारक चारुकीर्तिके समान सन्त इसे जीवित रखे हुए हैं।

विगत तीन सहस्र वर्षोंमें जैनधर्मका जो प्रचार व प्रसार हुआ, उसमें वैश्योंसे भी अधिक ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंका योगदान रहा है। भगवान महावीरके पट्टधर शिष्योंमें ग्यारह गणधर थे जो सभी ब्राह्मण

---

१. आचार्य जिनसेन : हरिवंशपुराण, ३, ३-७
२. डा० कामताप्रसाद जैन : दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, द्वितीय संस्करण, पृ० २४३
३. ठाकुरप्रसाद शर्मा : हुएनसांगका भारतभ्रमण, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९२९, पृ० ३७
४. हुकमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४
५. साइन्स आव कम्पेरेटिव रिलीजन्स, इन्ट्रोडक्शन, १९९७, पृ० ८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे। जैनधर्मकी परम्पराके प्रवर्तक जिन चौबीस तीर्थंकरोंका वर्णन मिलता है, उससे निश्चित है कि सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। केवल तीर्थंकर ही नहीं, समस्त शलाका पुरुष क्षत्रिय कहे जाते हैं। प्रत्येक कल्पकालमें तिरेसठ शलाकाके पुरुष होते हैं। इसी प्रकार जैनधर्मके परिपालक अनेक चक्रवर्ती महाराजा हुए। जहाँ बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजाओंने इस देशकी अखण्डताको स्थापित कर शान्तिकी दुन्दुभि बजाई थी, वहीं महाराजा बिम्बिसार (श्रेणिक), सम्राट् चन्द्रगुप्त, मगधनरेश सम्प्रति, कलिंगनरेश खारवेल, महाराजा आषाढ़सेन, अविनीत गंग, दुर्विनीत गंग, गंगनरेश मारसिंह, वीरमार्तण्ड चामुण्डराय, महारानी कुन्दब्बे, सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम, कोलुत्तुंग चोल, साहसतुंग, त्रैलोक्यमल्ल, आहवमल्ल, बोप्पदेव कदम्ब, सेनापति गंगराज, महारानी भीमादेवी, दण्डनायक बोप्प और राजा सुहेल आदिने भी इस धर्मका प्रचार व प्रसार किया है। पाँचवीं-छठी शताब्दीके अनेक कदम्बवंशी राजा जैनधर्मके अनुयायी थे। राष्ट्रकूट-कालमें राज्याश्रयके कारण इस धर्मका व्यापक प्रचार व प्रसार था। अनेक ब्राह्मण विद्वान् जैनदर्शनकी विशेषताओंसे आकृष्ट होकर जैनधर्मावलम्बी हुए। मूलसंघके अनुयायी ब्रह्मसेन बहुत बड़े विद्वान् तथा तपस्वी थे। 'सन्मतिसूत्र' तथा 'द्वात्रिंशिकाओं' के रचयिता सिद्धसेन ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थे जो आगे चलकर प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। वत्सगोत्री ब्रह्मशिवने सम्पूर्ण भारतीय दर्शनोंका तुलनात्मक अध्ययन कर 'समयपरीक्षा' ग्रन्थकी रचना की जो बारहवीं शताब्दीकी रचना है। भारद्वाज गोत्रीय आचण्ण 'वर्द्धमानपुराण'के रचयिता बारहवीं शताब्दीके कवि थे। दसवीं शताब्दीके अपभ्रंशके प्रसिद्ध कवि धवलका जन्म भी विप्रकुलमें हुआ था। कुतीर्थ और कुधर्मसे चित्त विरक्त होनेपर उन्होंने जैनधर्मका आश्रय लिया और 'हरिवंशपुराण' की रचना की। दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध आचार्य कर्नाटकदेशीय पूज्यपादका जन्म भी ब्राह्मणकुलमें हुआ था। इस प्रकारसे अनेक विप्र साधकोंने वस्तु-स्वरूपका ज्ञान कर जैन साधना-पद्धतिको अंगीकार किया था।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org